

प्राचीन भारतीय ज्ञान, साहित्य, परम्परा और वर्ण, जाति

डॉ. प्रवेश कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, तुलनात्मक राजनीति और राजनीतिक सिद्धांत का केंद्र, स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली, दिल्ली, भारत

सारांश

वैदिक ग्रंथों में जब हम भारतीय समाज के मूल स्वरूप को देखने, खोजने का प्रयास करते हैं तो पाते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज- व्यवस्था अधिक उन्नत एवं व्यवस्थित रूप में दिखाई पड़ती है। आपसी विद्वेष और संघर्ष का प्रायः अभाव है क्योंकि व्यक्ति का पूर्ण आचरण ही धर्म पर आधारित है। हमारी वैदिक ज्ञान, साहित्य एवं शासनिक व्यवस्था दुनिया के अन्य देशों से पहले ही भारत में सुचारु रूप से संचालित थी। समाज का विभाजन वर्ण के अनुसार था, लेकिन ये वर्ण कोई जन्म से ही प्राप्त हो जाए अथवा व्यक्ति को वर्ण नियत कार्य में ही लगे रहना है ऐसी कोई बाध्यता भी हमें हमारे वैदिक टेक्स्ट में देखने को नहीं मिलती है। भारत का सम्पूर्ण समाज सम्यक् दृष्टि एवं सामाजिक समरसता के मूल सिद्धांत पर बिना किसी अवरोध के विकसित एवं पल्लवित हो रहा था।

मूल शब्द: साहित्य, परम्परा और वर्ण, जाति

प्रस्तावना

भारत की चिंतन-धारा उसकी संस्कृति आज की नहीं बल्कि हजारों-हजारों वर्षों से सनातन धारा में चलायमान है, भारतीय सांस्कृतिक धरोहर विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। समाज-व्यवस्था किसी भी संस्कृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा होती है। इसको समझते हुए बाबा साहब अम्बेडकर कहते हैं कि- “समाज भय में एकत्रित समूह नहीं है बल्कि समाज का निर्माण तो बंधुत्व-भाव पर ही निर्भर करता है।” समाज शब्द ‘सभ्य मानव जगत्’ का संक्षिप्त रूप है। जिसमें तीनों शब्दों के प्रथम प्रथम अक्षर को मिलाकर एक शब्द बना, जिसे हम समाज कहते हैं। सभ्य का ‘स’ मानव का ‘मा’ और जगत् का ‘ज’। इस प्रकार समाज शब्द मानव जगत् का प्रतिनिधि शब्द है। समाज शब्द संस्कृत के दो शब्दों ‘सम्’ और ‘अज’ से मिलकर बना है। ‘सम्’ का अर्थ इकट्ठा व ‘अज’ का अर्थ एक साथ रहना। इस प्रकार एक साथ रहने वाला समूह समाज कहलाया। गिन्सवर्ग कहते हैं कि- “समाज केवल कुछ व्यक्तियों का किसी बाहरी आपत्ति से भयभीत होकर साथ होना मात्र नहीं है। बाढ़ से पीड़ित होकर गाँव का गाँव खड़ा होता है तो वह भी समाज नहीं है। समाज के लिए जहाँ व्यक्ति एकत्रित होते हैं, वहाँ उनमें पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य रूप से होने चाहिए।” गिन्सवर्ग के विचार को यदि संक्षेप में समझा जाए तो इसका मोटा-मोटा अर्थ मिलता है कि ऐसे व्यक्तियों के समूह को समाज कहा जाता है, जो कतिपय सम्बन्धों या वर्ताव की विधियों द्वारा परस्पर एकीभूत हैं। जो व्यक्ति इन सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध नहीं होते या जिनके वर्ताव भिन्न होते हैं वे समाज से पृथक् होते हैं। समाज की संक्षेप में परिभाषा को हम इस प्रकार लेते हैं। एक से अधिक व्यक्तियों के समूह को परिवार कहते हैं तथा एक परिवार से अनेक परिवारों के समूहिक प्रतिनिधित्व को समाज की संज्ञा दी जाती है। अगर समाज की उत्पत्ति की बात की जाए तो आदिकाल का मानव ही हमारे समाज का जन्मदाता है। ऋग्वैदिककाल में हमारा समाज एक आदर्श स्वरूप में देखने को मिलता है परन्तु आज की स्थिति वैसी नहीं है, आज ये बिल्कुल विपरीत-सा प्रतीत होता है। जहाँ प्राचीन काल में वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानव समाज के लिए एक आदर्श की स्थिति थी

वही आज के काल में इसी व्यवस्था ने समाज को टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित करने का कार्य किया है, जिसने समाज में असंतोष, शोषण एवं परस्पर विद्रोह को जन्म दिया है। इस वर्ण-व्यवस्था के कारण भारत का समाज मुट्टी भर अक्रांताओ से भी लड़ने में असमर्थ हो गया। ये ऐसा क्या हो गया जो समाज दुनिया को दिशा देने वाला था वही राष्ट्र दुनिया के मुट्टी भर आए आतंकियों, व्यापारियों के द्वारा गुलाम बना दिया जाता है। वर्ण और उससे निर्मित जाति ने भारत के गौरवशाली इतिहास को खंडित करने का प्रयास किया। कभी भारत का समाज एक इकाई था तो दुनिया के देशों में भारत ही सबसे आगे था, लेकिन समय के साथ समाज व्यवस्था में कुछ अनर्गल एवं अनैतिक आचरण के नियमों का निर्माण एवं उनको धर्म के हिस्से के रूप में मान्यता दे देने से समाज विखंडित-सा हो गया। ये वर्ण एवं जाति हमें हिंदू समाज में दिखती है इसलिए हम सर्वप्रथम इसे ही समझ लेते हैं। प्राचीन हिन्दू समाज को जानने और समझने के लिए उसके विविध स्रोतों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। चूँकि वेद आधुनिक समय में उपलब्ध होने वाले प्राचीनतम स्रोत हैं इसलिए हिन्दू धर्म के प्रामाणिक स्रोतों में सर्वप्रथम वेदों की गणना की जाती है। वेद संख्या में चार हैं, क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। तत्पश्चात् ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, स्मृतियों आदि की गणना होती है। ये सभी हिन्दू समाज के आधार को निर्मित करते हैं, हिन्दू धर्म के जीवन तत्त्व की बात करते हैं, जिस पर हिन्दू समाज की सारी संरचना निर्भर करती है।

आश्रम-व्यवस्था:- प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में धर्म, अर्थ और काम पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति मानव जीवन का परम उद्देश्य बताया गया है, जिसके लिए बाद के ऋषियों ने चार आश्रमों का विधान किया। हिन्दू समाज में इन चारो आश्रमों का अत्यधिक महत्त्व है। वेदों में मनुष्य की औसतन आयु सौ वर्ष की मानी गयी है। इसलिए प्रत्येक आश्रम के लिए 25-25 वर्ष का समय निर्धारित किया गया। ये आश्रम जीवन के चार चरणों को भी इंगित करते हैं।

■ **ब्रह्मचर्याश्रम-** ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्णतः ज्ञान की प्राप्ति के लिए समर्पित था, विद्यार्थी गुरुकुल में रह कर गुरु के पास में बैठ शिक्षा ग्रहण करता

है। शिक्षा-व्यवस्था नैतिक, गणित, विज्ञान, दर्शन, युद्धकला आदि पर आधारित थी। धर्म पहला पुरुषार्थ है, इसके अन्तर्गत विविध वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है। जन्म के प्रारम्भिक पच्चीस वर्ष ब्रह्मचर्य का काल माना गया है।

- **गृहस्थाश्रम:** समावर्तन के पश्चात् बालक का विवाह किया जाता है। विवाह के पश्चात् वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाता है। 25 वर्ष से लेकर 50 वर्ष तक व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में रहकर अपनी वंश परम्परा को आगे बढ़ाता है और विविध सुख सुविधाओं का उपभोग करता है। इसमें द्वितीय पुरुषार्थ अर्थात् अर्थ का उपार्जन करता है तथा सभी प्रकार के कामनाओं की पूर्ति करता है।
- **वानप्रस्थाश्रम:** गृहस्थाश्रम के समाप्त हो जाने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता है। इसमें व्यक्ति सभी प्रकार की सुख सुविधाओं एवं उनकी कामनाओं का परित्याग कर देता है तथा अपना घर परिवार छोड़कर अरण्य में चला जाता है। समस्त प्रकार के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य को त्यागने का अभ्यास करता है।
- **सन्यासाश्रम:** यह आश्रम व्यक्ति के स्वयं के लिए होता है। इसमें व्यक्ति पूर्ण रूप से वीतराग होकर मोक्ष को साधने का उपाय करता है। विविध यौगिक क्रियाओं के द्वारा साधना करके परम तत्त्व को प्राप्त करने की दिशा में प्रयासरत रहता है।

पुरुषार्थ-हिन्दू धर्म की सामाजिक संरचना में चार प्रकार के पुरुषार्थों की बात की गई है। उनके नाम क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं।

- **धर्म:** यहाँ धर्म से अभिप्राय जीवन को संयमित होकर चलाना है और समाज व्यवस्था के व्यवस्थित संचालन हेतु कर्तव्यों का पालन करना है। इस धर्म का महत्त्व भारतीय चिंतन और समाज-व्यवस्था में अधिकाधिक रहा है। बाबा साहब ने भी माना की धर्म व्यक्ति को समाज-व्यवस्था में संयमित रखने का एक कारगर तत्त्व है। धर्म का उद्भव ही तब होता है जब एक से ज्यादा व्यक्ति होते हैं, अकेले व्यक्ति के लिए कोई धर्म नहीं होता। भारतीय दर्शन में धर्म आचरण और कर्तव्यों के साथ जुड़ा है। बाद के दिनों में ब्राह्मणवादी चिंतन जो सर्वोच्चता के विचार पर आधारित था, इसको स्वर्ग प्राप्ति के साथ जोड़ा और इस विचार को समाज की तमाम अवांछनीय बातों को भी मनवाने का कार्य किया।
- **अर्थ:** व्यक्ति को अपना जीवन चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है परन्तु अर्थ को किसी अनैतिक कार्यों द्वारा न अर्जित किया जाए। अर्थ का संचयन सृजन भी धर्म संगत हो।
- **काम:** जीवन में काम का भी महत्त्व है, उसको भी संयमित रूप में किया जाना चाहिए।
- **मोक्ष:** जीवन में सबसे बड़ा लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है।

इसी प्रकार आश्रम और पुरुषार्थ के बाद ऋण की बात आती है। हिन्दू समाज-दर्शन में त्याग को जीवन का प्रमुख अंग माना गया है। व्यक्ति का जीवन मात्र सांसारिक सुखों की प्राप्ति न होकर जन कल्याण के विचार से जुड़ा हुआ है। इसी त्याग की भूमिका में हमारे मनीषियों ने ऋणों की बात की। ये निम्न हैं- देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, अतिथि ऋण, भूत ऋण। वही हिन्दू समाज में सोलह संस्कारों की बात भी की गई है, जिनके नाम क्रमशः गर्भाधान, पुंसवन, सिमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह,

वानप्रस्थ, सन्यास और अन्त्येष्टि हैं। वैदिक संहिताओं में इन संस्कारों का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता है, परवर्ती ऋषियों ने मोक्षप्राप्ति की दिशा में इन संस्कारों का प्रवर्तन किया।

वर्ण-व्यवस्था: वैदिक समाज चार वर्णों क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभाजित था। यह वर्ण-व्यवस्था पूर्णतः गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित थी। जीवन-यापन के लिए किसी भी व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुरूप किसी भी कार्य का चुनाव कर सकता था। एक ही परिवार के सभी लोग भिन्न-भिन्न वर्ण के भी होते थे। कार्य के आधार पर किसी भी वर्ण को ऊँच अथवा नीच नहीं समझा जाता था। वर्ण को व्यक्ति के शरीर के अंगों के रूप में बताया गया है ऋग्वेद में वर्णन आता है कि ब्राह्मण समाजरूपी पुरुष का मुखभाग है, क्षत्रिय भुजाएँ हैं, वैश्य शरीर का उदर, कटि, जघन आदि मध्यभाग है तथा शूद्र पैर है। वेदों में विभिन्न वर्णों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं माना गया है। अथर्ववेद में वर्ण शब्द चुनने अथवा स्वीकार करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

- **ब्राह्मण:** ब्राह्मण को समाज का मुख माना गया है। "मुखस्य भावः मुख्यम्" इसी उत्पत्ति के आधार उसे समाज में आदर है ये वर्ग पठन-पठान का कार्य प्रतिपादित करता है। ब्राह्मण को परिभाषित करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं कि-

एतस्मिन् आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः

अगृह्यमाणकारणाः

किम् चित् अन्तरेण कस्याः चित् विद्यायाः पारगाः तत्रभवन्तः

शिष्टाः ।

अर्थात् जो धन का संग्रह न करता हो, किसी प्रकार का लालच न करता हो, अकारण धनादि का ग्रहण न करता हो, किसी न किसी विद्या में पाराङ्गत हो, वही व्यक्ति ब्राह्मण कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान में लगा हुआ, सत्य के प्रति निष्ठावान्, मेंधा सम्पन्न, यशस्वी, श्रद्धावान्, दीक्षा तथा यज्ञ के प्रति निष्ठावान् व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है।

- **क्षत्रिय:** क्षत्रिय अपनी भुजाओं से सबकी रक्षा करता है, इसलिए उसको समाज की भुजा कहा गया है। युद्धकला की प्रवीणता किसी भी व्यक्ति के भुजाओं पर भी निर्भर करती है। योद्धा जब युद्ध के मैदान में अपने युद्धकौशल का प्रदर्शन करता है तो उसकी भुजाएँ ही उसका प्रथम हथियार होती हैं।
- **वैश्य:** वैश्य का कार्य भी अत्यन्त श्रम पूर्वक सम्पन्न किया जाता है। मुख, भुजा और पैर के अतिरिक्त शरीर के अन्य सभी भाग कटिप्रदेश में परिगणित होते हैं। कृषि अथवा व्यापार, हल, कुदाल आदि चलाने के लिए जड़घाओं और कटिप्रदेश का मजबूत होना अधिक आवश्यक है। वैश्य विभिन्न प्रकार का श्रम करके राजकीय कोष की वृद्धि करता है। अतः उसको समाज का कटिभाग (मध्यभाग) माना गया है। इसके विषय में अथर्ववेद में कहा गया है कि समाज का वह वर्ग जो वाणिज्य, व्यापार आदि में रुचि लेता है वैश्य कहलाता है।
- **शूद्र:** उपर्युक्त तीन वर्णों द्वारा किए जाने वाले कार्य के अतिरिक्त शेष सभी कार्य शूद्रवर्ण के द्वारा सम्पादित किया जाता था। अन्य सभी वर्णों का कार्य सीमित था उनको प्रायः एक-एक ही कार्य सौंपा गया था परन्तु शूद्र का कार्य असीमित था। प्राणिमात्र की सेवा करना है। स्वच्छता से लेकर कृषि, वाणिज्य, श्रमिक, अस्त्र-शस्त्र का निर्माण, भवन-निर्माण आदि सभी प्रकार के कार्यों के सम्पादन में उसकी

भूमिका है। जिस प्रकार पैर सम्पूर्ण शरीर के भार का वहन करते हैं, उसी प्रकार शूद्र भी सम्पूर्ण समाज की सेवा करके अन्य वर्णों की सहायता करता है, इसलिए उसको समाज का पैर कहा गया है। शूद्र को स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद कहता है कि - 'तपसे शूद्रम्' अर्थात् समाज का वह वर्ग जो विविध श्रमसाध्य कार्यों में रुचि लेता था वह शूद्र कहलाता था। इनके पास मानसिक बल की अपेक्षा शारीरिक ताकत अधिक होती थी। इन्हें प्रायः कठिन एवं श्रम वाले कार्य ही सौंपे जाते थे। जैसे- पर्वत आदि पर रास्ता बनाना, जमीन की खुदाई करना आदि।

समाज का वह वर्ग जो आजीविका हेतु सेवा आदि कार्य को अपनाता है, वह शूद्र कहलाता है।

वर्ण-व्यवस्था का यह विभाजन सर्वथा कर्म पर आधारित था, इसका जन्म से कुछ लेना नहीं था। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं दिखाई पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि तत्कालीन समाज में ऊँच-नीच का भाव था ही नहीं। ऋग्वेद में विभिन्न प्रकार के दासों का वर्णन मिलता है लेकिन बाबा साहब ने इन्हें शूद्र नहीं माना है। युद्ध में हारे हुए सैनिकों को अथवा निर्धन वर्ग को अपना दास बना लेना एवं उनसे मनमाने तरीके से व्यवहार कराना, ऐसा कहीं-कहीं दिखता है लेकिन वेदों ने इसे भी गलत माना है। यह वर्ण व्यवस्था संहिताकाल में इतनी आपत्तिजनक नहीं थी जितनी कि अब है। उस समय सामाजिक असमानता की भावना कम ही दिखाई पड़ती है परन्तु ब्राह्मण और स्मृतिकाल के आते-आते तक यह व्यवस्था पूरी तरह असमानता पर आधारित हो गई। समाज में व्यक्ति के अपराध तक का निर्धारण एवं दण्ड उसके वर्ण के अनुसार होने लगा। इसने किसी को उच्च वर्ण का बना दिया तो किसी को निम्न। जिसमें प्रभुत्वशाली लोगों ने समाज में शोषण प्रारम्भ कर दिया, इसी ने समाज में ऊँच-नीच का भाव पैदा किया तथा ईश्वरीय आदेश और धर्मादेश बताकर तरह-तरह की नियोग्यताएँ थोप दी।

जिसमें 'स्त्री शूद्रो नाधीयाताम्' अर्थात् स्त्री और शूद्र न पढ़ें जैसे विचार को गढ़ा गया। इसी कारण से 70 से 80 प्रतिशत जनसंख्या अशिक्षित रह गयी। जबकि वेदों में समानता पूर्वक शिक्षा का विधान किया गया है। व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास में समानता का अधिकार अनिवार्य है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि सबका हृदय समान हो, सबका मन एक समान हो अर्थात् परस्पर किसी प्रकार का वैमत्य न हो- 'समानी वः आकूति समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।'। वही अथर्ववेद में भी इस से भिन्न कुछ नहीं कहा है- 'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्योऽन्यमभिहृयत वत्सं जातिमिवाघ्न्या।।' वैचारिक दृष्टि से भी सभी मनुष्यों में समानता होनी चाहिए अर्थात् पारस्परिक विद्वेष के जितने भी कारण हैं उनका नाश करके पारस्परिक सौहार्द्रतापूर्वक जीवन-यापन में सभी को प्रवृत्त होना चाहिए। सभी प्रकार के कार्यों पर सबका समान अधिकार है अर्थात् कोई भी व्यक्ति स्वेच्छानुरूप इच्छित कार्य का चुनाव कर सकता है इसलिए कोई भी कार्य जाति, लिंग, वर्ण आदि के आधार पर मनमाने तरीके से किसी पर प्रत्यारोपित नहीं किया जना चाहिए। 'अभयं मित्रादभयमित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।' इतना ही नहीं यजुर्वेद की वाणी कहती है की सभी मनुष्यों में अपने-आपको तथा अपने-आप में सभी को देखना ऐसी दृष्टि हो, इस कारण उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। सभी वैदिक देवता अग्नि, वायु, मित्र, वरुण, पृथ्वी आदि सभी पर समान रूप से उपकार करते हैं। वेदांत चिन्तन में क्यों कहीं ये नहीं लिखा कि मुक्ति केवल ब्राह्मणों को मिलेगी अथवा क्षत्रिय और वैश्य को या शूद्रों को नहीं मिलेगी। ऐसा कोई

विचार किया गया है क्या? बल्कि परब्रह्म का स्वरूप प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान है, ऐसे विचार को प्रतिपादित करने का कार्य हमारे भारतीय दर्शन में किया गया है।

कठोपनिषद में कहा गया:- 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'। समस्त प्रणियों की अन्तरात्मा परब्रह्म एक ही है। जो सभी प्रणियों में विराजमान है।

रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसू नस्कृधि।

रूचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचा रूचम्॥

अर्थ-हमारे ब्राह्मणों को तेजस्वी करो, हमारे क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी तेजस्वी कान्तिवान बनाओ।

चारों वर्णों की समृद्धि और विकास की बात की गई है। क्या कहीं यह भी कहा गया है कि एक की उन्नति हो जाए, और दूसरों की नहीं। ऐसा भाव आने मात्र से पाप होने जैसा विचार कहीं था तो भारत भूमि के दर्शन पर था। वेदों का रचयिता जब स्वयं शूद्र वर्ग से सम्बन्धित है तो वो स्वयं अपने लिये निम्न वर्ण की व्यवस्था कैसे कर लेगा ये प्रश्नीय है? स्वयं डॉ अम्बेडकर ने कहा की "छंदोग्योपनिषद (6-1-2) की एक कथा है शूद्र रेकव ने वेदध्यान कराया इससे भी बढ़ कर यह बात है कि 'कवश एलेशू' ऋषि शूद्र थे, उपरोक्त और ऋग्वेद के दसवें मण्डल के तमाम श्लोकों के रचयिता खुद एलेशू ही हैं। ऋषि परम्परा के श्रेष्ठ ऋषि 'मतंग' शूद्र ही थे परन्तु वैदिक काल के बाद शिक्षा का अधिकार शूद्रों से छीन लिया गया। भारत में कोई उच्च और नीच हो ही नहीं सकता है। ये तथ्य है कि प्राचीन काल में विभिन्न वर्ण आपस में विवाह करते थे वो भले ही प्रेम विवाह ही क्यों ना हो। वीर सवारकर ने उच्च नीच, शुद्धि-अशुद्धि पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं कि- "भारत में सभी वर्णों का जन्म किसी भी एक कार्य आधारित विशेष वर्ण में क्यों ना हुआ हो परन्तु उनमें रक्त एक है।" वे महाभारत का उदाहरण देते ही हुए बताते हैं कि पाण्डव कुल पर विचार करे तो देखे महर्षि पाराशर ब्राह्मण थे किन्तु एक धीवर अस्पृश्य की कन्या पर वे आशक्त हो गए। इन्हीं की संतान हुए कृष्ण द्वैपायन भगवान 'वेद व्यास'। वेदव्यास जी ने ही क्षत्रिय कुल की राज कन्याओं अम्बा और अम्बालिका से दो पुत्रों को उत्पन्न किया। इन्हीं दो पुत्रों में से एक पाण्डु ने अपनी पत्नियों को नियोग पद्धति द्वारा सन्तान उत्पत्ति करने की अनुमति प्रदान कर दी। इन दोनो नारियों ने आज्ञत कुल के पुरुषों से प्रेम याचना कर महाभारत के नायकों को जन्म दिया। महाभारत में कर्ण, घटोत्कच, विदुर आदि सभी किस वर्ण के थे। इसी प्रकार कृष्ण भट्ट स्वयं ब्राह्मण थे किन्तु वे एक चाण्डाल कन्या को अपना हृदय समर्पित कर बैठे और उन्होंने उससे विवाह भी कर दिखाया। इन्हीं से मातंगी पन्थ नामक एक नवीन पंथ का उद्भव हुआ। इस प्रकार वेदों में अशुद्धता और शुद्धता का कहीं पर भी कोई जिक्र नहीं है। बाबा साहब अम्बेडकर ने भी वेदों के आधार पर ये प्रमाणित करने की कोशिश की है कि वेदों में अस्पृश्यता और ऊँच-नीच का विषय नहीं था। बल्कि शूद्र कौन थे? वो मानते हैं कि शूद्र अस्पृश्य नहीं थे बल्कि वो तो क्षत्रिय वंश के योद्धा जन थे। इतिहास में देखें तो वास्तव में शूद्र माने जाने वाले लोगों ने इस भारत भू पर शासन किया। ऋग्वेद में अगर इच्छवाकु और सुदास का वर्णन आता है, ये दोनों ही राज शूद्र वर्ण के हैं पर उनकी स्तुति ऋग्वेद में की गयी है। ऋग्वेद में अगर शूद्र और सवर्ण का विचार होता तो शूद्र माने जाने वाले वर्ण के राजाओं की स्तुति कैसे होती वो भी निम्न वर्ण के और दूसरी बात निम्न कुल जन्म व्यक्ति ये राजा ही नहीं बन सकते।

क्योंकि ये तो शूद्र है और इनका कार्य सेवा करना है। एक और प्रश्न आता है कि रामायण में राम को एक शूद्र अस्पृश्य जाति का व्यक्ति कुछ भी बोले और राजा उसको मान लेगा शूद्र किसी महल में कैसे पहुँच गया, वो तो जा ही नहीं सकता था। राम-शबरी के बेर खा लेते हैं क्यों? केवट की नाँव में चढ़ते हैं, उसे गले से लगाते हैं क्यों? राजा है राम लेकिन केवट और वे दोनों एक ही गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते हैं, इसका प्राय है उस वक्त अस्पृश्यता नहीं थी। हिन्दू समाज में जाति आदि का कोई विचार नहीं है। भारत के दर्शन में वसुधैव कुटुम्बकम् का विचार उपनिषदों में वर्णित है। वहाँ निर्माण और जोड़ने की बात निहित है। वहाँ बिखराव और तोड़ने की बात ही नहीं सकती। स्वामी विवेकानन्द ने भी हिन्दू धर्म में जाति और इस आधार पर किए जा रहे उत्पीड़न को नकार दिया और प्रश्न खड़ा किया वर्तमान में प्रचलित हिन्दू धर्म जिसमें अस्पृश्यता और कर्मकण्डीयता का वर्णन है। भगवान कृष्ण ने भी गीता में कर्मों के आधार पर वर्णों के जन्म का वर्णन किया है- 'चतुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः' वही वनपर्व में एक घटना में युधिष्ठिर ने भी ये बताया कि कर्मों के आधार पर कोई शूद्र बनता है और कोई ब्राह्मण। इसी प्रकार वेदों में शूद्रों एवं महिलाओं को शिक्षा का अधिकार नहीं है, इसको लेकर समाज में भ्रम की स्थिति पैदा करने का प्रयास किया गया जो बिल्कुल ही असत्य है। जब हम प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था पर विचार करते हैं तो सहसा ही मन में यह प्रश्न आता है कि क्या ये शिक्षा शूद्रों को मिलती थी? उत्तर मिलता है कि वैदिक काल में तो सभी वर्णों के साथ शूद्रों को भी शिक्षा का समान अधिकार था। वहाँ वर्ण के आधार पर किसी को शिक्षा से वंचित नहीं किया गया है। किन्तु बाद के समय में ये शिक्षा और आश्रम गुरुओं का बिभाजन हो गया। राज परिवार और आम जन फिर आमजनों और शूद्र और अन्य वर्णों में बंट गया। वेदों में अधिकार की दृष्टि से लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुष में भेद नहीं किया गया है। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी शिक्षा, यज्ञ, व्यापार, नेतृत्व आदि का पूर्ण अधिकार दिया गया है। अथर्ववेद में स्त्रियों को व्यापार आदि का अधिकार दिया गया है। स्त्रियाँ प्रायः सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, वस्त्रनिर्माण आदि का कार्य करके व्यापार में अपनी सहभागिता सुनिश्चित करती थीं। ऋग्वेद में पारिवारिक निर्णयों के सन्दर्भ में स्त्री को ब्रह्मा कहा गया है। वेदों में सरस्वती को विद्या की अधिष्ठाता देवी कहा गया है, जो एक स्त्री है। उक्त मान्यता शिक्षा में स्त्री के प्रतिनिधित्व को दर्शाती है। एक स्थान पर स्त्री को विभिन्न शास्त्रार्थों में भाग लेने का वर्णन किया गया है। इन्द्राणी को शिक्षा के साथ-साथ सेना के नेतृत्व का कार्य-भार भी दिया गया है। वह अजेय बनकर राज्य का उत्कर्ष करती है।

वेदों में अनेकों ऋषिकाओं के नाम प्राप्त होते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा स्त्रियों के लिए भी समान है। इन तमाम विचारों को जानने पर स्वतः ज्ञात हो जाता है कि हमारे वैदिक ग्रंथों में कहीं भी असमानता, उत्पीड़न का विचार नहीं था और ना ही किसी प्रकार का ऊँच नीच का भाव। भारत में अस्पृश्यता का पहल प्रमाण ही मुस्लिम अक्रांताओं के आने के बाद ही भारत में दिखता है साथ ही कलकत्ता में पहले न्यायलय के बनने के बाद पहली बार मनुस्मृति और उसे हिंदू कानून के रूप में माना जाना ये विचार आता है। इस प्रकार वेद समानता का पक्षधर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अम्बेडकर, बी. आर (2002): शूद्र कौन थे, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, मध्यप्रदेश, भारत।
2. अम्बेडकर, बी. आर (2010): जाती प्रथा का उच्छेद, गौतम बुक्स, दिल्ली, भारत।

3. अल्लेकर, अनन्त सदाशिव (1980, प्रथम संस्करण): प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति. मनोहर प्रकाशन, वाराणसी, भारत।
4. उपाध्याय, बलदेव (1967): वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, शारदा मन्दिर, वाराणसी, भारत।
5. कुमार प्रवेश (2011): दलित अस्मिता की राजनीति, मानक पब्लिकेशन दिल्ली भारत।
6. कुमार, प्रवेश (2012): दलित अस्मिता के प्रतीक, देशना प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
7. कुमार, शशिप्रभा,(2005): वैदिक संस्कृति के विविध आयाम. विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
8. कुमार, प्रवेश (2014 अक्टूबर-दिसंबर): हिन्दू जाति का सच, शोधपर्व वाल्यूम-1 भारत।
9. कोसंबी, दामोदर धर्मानन्द(2007): प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, (अनु.) गुणाकर मूले. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, भारत।
10. कृष्णचन्द्र(1992): भारतीय संस्कृति, सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
11. गोपाल, कृष्ण (2015) : भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता, मध्य प्रदेश ग्रंथ अकादमी, भारत।
12. छान्दोग्योपरिषद्: गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, भारत।
13. टुलधरिया, बट्टीसाह (सवत् 2059): दैशिक शास्त्र, दीनदयाल उपाध्याय प्रकाशन, लखनऊ, भारत।
14. पतंगे, रमेश (1997): मै, मनु और संघ, मोरया प्रकाशन, पुणे, भारत।
15. दास गुप्ता, एस.एन (2011): भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1, 2 राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर भारत।
16. द्विवेदी, कपिलदेव (2012): अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर, भदोही, भारत।
17. द्विवेदी, कपिलदेव (2010): वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, भारत।
18. देवराज, नन्दकिशोर (1976): भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान भारत।
19. देवराज, महर्षि, यजुर्वेद संहिता, (1970) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, भारत।
20. भाष्यकार सायणाचार्यः, (वि. सं. 2018): अथर्ववेदः शौनकीयः, (सं.) विश्वबन्धुः. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, भारत।
21. मीमांसकः, युधिष्ठिर,(1992): वैदिक सिद्धान्त मीमांसा. श्रीमती सावित्रीदेवी बागाडीया ट्रस्ट, कलकत्ता, भारत।
22. शर्मा राम शरण (2011): भारतीय इतिहास एक पुनर्विचार, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली।
23. शास्त्री, मंगलदेव(1966, प्रथम संस्करण): भारतीय संस्कृति का विकास. भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
24. श्री निवास, एम. एन. (2001) : आधुनिक भारत में जाति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली भारत।
25. स्वामी, विवेकानंद (2013): जाति, संस्कृति, और समाजवाद, रामकृष्ण मठ, नागपुर, भारत।
26. सत्यश्रवा, भगवद्दत्त(1976): वैदिक वाङ्मय का इतिहास. प्रणव प्रकाशन, दिल्ली भारत।
27. सहाय शिवस्वरूप (2000): प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली, भारत।
28. सहाय, गंगा (2006): ऋग्वेद, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली